वेदोऽखिलोधर्ममूलम्

ऋग्वेद
यजुर्वेद
सामवेद
अथर्ववेद

वेद प्रकाश

मासिक पत्र (6-7 प्रतिमाह) मूल्यः ५ रुपये जनवरी २०१५

कुल पृष्ठ संख्या २०, वजनः 40 ग्राम
प्रकाशन तिथिः 4 जनवरी 2015

अन्तःपथ

ईश्वर का सर्व व्यापकत्व तथा विश्व संचालन (डॉ. भवानीलाल भारतीय)	३ से ५
मानसिक बल एवं विद्या (स्वामी सर्वदानन्दजी)	५ से ११
मृत्यु और अमरत्व (अवधेश नारायण मिश्र)	१२ से १३
'वेदों की ओर' पुस्तक से उद्धृत (डॉ. विक्रम कुमार विवेकी)	१३ से १८

सुविचार

दुनिया में दो तरह के लोग होते हैं—एक वो जो काम करते हैं और दूसरे वो जो सिर्फ श्रेय लेने की सोचते हैं। प्रयास करना कि तुम पहले समूह में रहो क्योंकि वहाँ प्रतिस्पर्धा कम है।

प्रजापति का उपदेश

संसार के समस्त प्राणी प्रजापति परमात्मा की ही सन्तान हैं। चींटी से लेकर हाथी-पर्यन्त पशु, लघु पतंगे से लेकर श्येन और गरुड़ आदि अण्डज पक्षी और इन सब प्राणियों में श्रेष्ठ और वरिष्ठ—अशरफुल-मखलूक़ात—शरीरधारियों में सर्वश्रेष्ठ मनुष्य, सब परमात्मा के ही पुत्र हैं। वही इन जीवों को शरीर प्रदान करता है। मनुष्य यों तो आकृति, प्रकृति, रंग, रूप में भी भिन्न-भिन्न होते हैं किन्तु गुण, कर्म, स्वभाव तथा प्रकृति की भिन्नता उन्हें देव, दानव और मनुष्य इन तीन श्रेणियों में विभाजित कर देती है। उपनिषद् ने आख्यायिका का सहारा लेते हुए कहा कि एक बार देव, मनुष्य और असुर प्रजापति की इन तीनों सन्तानों ने अपने पिता के समीप जाकर ब्रह्मचर्य-व्रत लिया। जब उनकी यह व्रतचर्या समाप्त हो गई तो देवों ने प्रजापति से दीक्षान्त उपदेश देने के लिए कहा। प्रजापति ने 'द' का उच्चारण किया और मौन हो गए। एक अक्षर-मात्र के बोलने से क्या देव प्रजापति के अभिप्राय को समझ गए? यह पूछने पर देवों ने कहा, "हाँ, आपने हमें दमन करने के लिए कहा है।" वस्तुत: मनुष्यों में देवताओं का वर्ग अत्यन्त वैभवशाली, ऐश्वर्यवान् तथा सामर्थ्यसम्पन्न माना गया है। ये देवता प्रचुर सम्पत्ति उपार्जित करते हैं। इनका जीवन ऐश्वर्य और भोग से परिपूर्ण होता है। अब यदि ये देव इसी प्रकार का विलासी जीवन व्यतीत करते रहे तो इनका पतन सुनिश्चित जानकर प्रजापति ने उन्हें इन्द्रियदमन, संयम तथा सादगीपूर्ण जीवन व्यतीत करने का उपदेश दिया। किन्तु यह उपदेश केवल 'द' प्रतीक की ही व्याख्या थी।

अब देवों के बाद मनुष्यों की बारी आई। उन्होंने भी जब प्रजापति से उपदेश देने के लिए निवदेन किया तो पुन: 'द' अक्षर का उच्चारण कर प्रजापति मौन हो गए। जब प्रजापति ने पूछा कि क्या वे 'द' का अभिप्राय जान गए हैं तो मनुष्यों ने कहा कि "हाँ, आपने हमको दान करके के लिए कहा है।" उनका यह समझना ठीक ही था, क्योंकि साधारण मनुष्य दान करे ही अपने-आपको सुपथगामी बना सकता है। महामति विदुर ने उस धनवान् व्यक्ति के गले में पत्थर की शिला बाँधकर उसे पानी में डुबो देने के लिए कहा है जो कृपण है, दान नहीं करता, अपनी संचित सम्पत्ति को लोकहित तथा जनकल्याण में व्यय नहीं करता—

द्वावम्भसि निवेष्टव्यौ गले बध्वा दृढां शिलाम्।
धनवन्तमदातारं, दरिद्रं चातपिस्वनम्॥५८

अब अन्त में असुरों की बारी आई। प्रजापति के लिए तो अपनी सारी प्रजा तुल्य ही थी। इसलिए उन्होंने असुरों को भी उसी 'द' का ही उपदेश दिया। विचारशील तो असुरों में भी कुछ होते ही हैं। उन्होंने अपने भाइयों को 'द' के उपदेश की सार्थकता समझाते हुए कहा, "हम लोग आसुरी प्रकृति के हैं। कठोरता, अत्याचार, परपीड़न, हिंसा आदि दुर्गुण हमारे स्वभाव बन गए हैं। फलत: हम निरपराध प्राणियों की हिंसा करते हैं, उनका उत्पीड़न करते हैं। हममें न करुणा है, न दया और न अन्य के हित की आकांक्षा। अत: प्रजापति ने 'द' कहकर हमें प्राणिमात्र के प्रति दया करने का उपदेश दिया है।" जब तीनों ने अपने द्वारा समझी 'द' की व्याख्या प्रजापति को बता दी तो उन्हें संतोष हुआ और उन्होंने कहा कि "हाँ, तुम लोगों ने मेरा अभिप्राय जान लिया।"

कथा को समाप्त करते हुए उपनिष्पत्कार ऋषि कहते हैं कि देखो, प्रजापति का यह सार्वभौम उपदेश मेघगर्जना में भी हमें सुनाई पड़ता है। जब बादल गरजते हैं तो उनसे द-द-द की ध्वनि होती है। यह दैवी घोष भी संसारी लोगों को दमन, दान और दया करने की प्रेरणा करता है।

—बृहदारण्यकोपनिषद् ५।२

वेदप्रकाश

संस्थापक : **स्वर्गीय श्री गोविन्दराम हासानन्द**

वर्ष ६४ अंक ०६ वार्षिक मूल्य : तीस रुपये, एक प्रति ५ रुपये, जनवरी, २०१५

सम्पा॰ **अजयकुमार** पूर्व सम्पादक : स्व॰ **स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती**

ओ३म्

ईश्वर का सर्वव्यापकत्व तथा विश्व संचालन

–डॉ॰ भवानीलाल भारतीय

प्राय: पाठकों को यह भ्रान्ति होती है कि गीता में अद्वैतवाद या विशिष्ट द्वैतवाद का प्रतिपादन है किन्तु सत्य तो यह है कि गीता में ईश्वर जीव तथा प्रकृति का स्पष्ट पृथकश: वर्णन है। निम्न श्लोक को देखें–

ईश्वर: सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्नुन तिष्ठति।
भ्रामयन सर्वभूतानि यंत्रारूढ़निमायया।

–18/61

तमेव शरणं गच्छ सर्व भावेन भारत।
तद्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।।

–18/62

यहां स्पष्ट कहा गया है कि समस्त प्राणियों के अन्तर्मन में परमात्मा विराजमान है जो सारे प्राणियों की गतिविधियों का संचालक या मार्ग दर्शन उसी प्रकार करता है जैसे एक मर्मज्ञ इंजीनियर अपने यंत्रों का कौशलपूर्वक संचालन करता है। अनेक लोग 'स्वभाव' को सृष्टि का कारण बताते हैं तो अन्य काल के द्वारा विश्व संचालन होना मानते हैं। परन्तु गीता का यह श्लोक सीधे श्वेताश्वतर उपनिषद् के तत्त्व को प्रस्तुत करता है जिसमें कहा गया है कि इस ब्रह्मचक्र (सृष्टि रचना) का प्रवर्त्तक वह देव (परमात्मा) है। इसी प्रकार अन्य प्रसंग में क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का अर्थ स्पष्ट करते हुए इन्हें प्रकृति तथा जीवात्मा के लिए प्रयुक्त माना गया, साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया है कि वह पुरुष (परमात्मा) इनसे भिन्न है जो परमात्मा नाम से पुकारा जाता है। इसी ईश्वर की शरण में जाने के लिए उक्त श्लोक में संकेत किया गया और कहा गया है कि उसी ईश्वर की शरण में जाना चाहिए। उसकी कृपा से जीवात्मा को परम और स्थायी शान्ति

मिलगी।

प्रायः यह समझा जाता है कि परमात्मा ही हमारी अच्छी बुरी क्रियाओं के लिए जिम्मेवार है। परन्तु जीव कर्म करने में स्वतंत्र है परन्तु परमात्मा अन्तस्थ होने का कारण मार्गदर्शन अवश्य देता है। परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि जिस प्रकार एक बड़े यन्त्रालय (कारखाना) का संचालन एक प्रमुख मशीन का बटन करता है उसी प्रकार समस्त जड़ जगत् (महाभूतों) को गति देने वाला वह परमात्मा ही है। उसके लिए उक्त श्लोक में कहा गया है कि वह चेतन परमात्मा स्वसंचालक शक्ति से समस्त भूत जगत् को गति प्रदान करता है और चेतन जीवात्माओं को भी गति प्रेरणा, उत्साह, प्रोत्साहन, मार्गदर्शन देता है। यहाँ जीवेश्वर भेद स्पष्ट बताया है।

भगवद्गीता का एक सदाचार मूलक श्लोक

-डॉ. भवानीलाल भारतीय

हमारे शास्त्रों ने सत्यासत्य, धर्मा-धर्म, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, न्याय-अन्याय के निर्णय के लिए वेद, स्मृति, सदाचार (श्रेष्ठ पुरुषों का आचरण) तथा स्वयं की आत्मा की स्वीकृति को प्रमाण माना है। यहाँ सदाचार को तीसरा स्थान मिला है। गीता ने सदाचार को अन्यों के लिए भी अनुकरणीय मान कर सभी को ऐसा ही आदर्श उपस्थित करने के लिए कहा है, जिसे अन्य भी अपनायें। प्रासंगिक श्लोक है–

यद् यद् आचरति श्रेष्ठः स्तत्र देवेतरो जनः।
सयत प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते।

श्रेष्ठ पुरुष जैसा आचरण करते हैं, सामान्य लोग भी उसी का अनुकरण करते हैं। इसीलिए कहा है–**रामवत् वर्तितव्यम् म तु रावणवत्** हमें राम जैसे मर्यादा पुरुषों के आचरण को अपनाकर श्रेष्ठ आर्य का आदर्श उपस्थित करना चाहिए न कि रावण की भांति, दुराचारी, अत्याचारी के समक्ष राक्षसों के काम। सम्भवतः सदाचार की शिक्षा देने वाला यह गीता का महत्त्वपूर्ण श्लोक है।

भगवद्गीता के प्रमुख पात्रों के पारस्परिक प्रयुक्त एवं सम्बोधन

-डॉ. भवानीलाल भारतीय

वस्तुतः भगवद्गीता महाभारत के अन्तर्गत भीष्म पर्व के कुछ अध्यायों का पृथक् संग्रह ही है। अठारह अध्यायों और सात सौ श्लोकों का यह अध्यायों का पुंज धर्म, अध्यात्म, नैतिक कर्त्तव्य तथा मनुष्य के आचरण के उपयुक्त इति कर्त्तव्यों का अद्भुत संग्रह है। गीता का उपाख्यान कृष्ण-अर्जुन के संवाद के रूप

में लिखा गया है। कौरवों का सम्राट् धृतराष्ट्र अपने सचिव संजय को महाभारत के उस महायुद्ध का क्रमबद्ध विवरण सुनाने का आग्रह करता है। फलतः उसने कौरव पाण्डव युद्ध का सिलसिलेवार वर्णन अपनी अद्‌भुत सूझ से प्रस्तुत किया है। यह जानना मनोरंजक होगा कि इन दो वक्ता-श्रोताओं (कृष्ण तथा अर्जुन) ने एक दूसरे के लिए किन-किन शब्दों का प्रयोग किया। इन शब्दों की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को जानने से हमें अपने विगत पुरुषों के गौरवमय आचरण, व्यवहार तथा पारस्परिक सम्बन्धों की अद्‌भुत जानकारी मिलती है। इस प्रकार कृष्ण तथा अर्जुन के लिए प्रयुक्त शब्दों का अध्ययन उचित होगा। गीता में कृष्ण के लिए निम्न सम्बोधन प्रयुक्त हुए है–कृष्ण, माधव, हृषीकेश, केशव, गोविन्द, जनार्दन, वार्ष्णेय, मधुसूदन, पुरुषोत्तम आदि। कृष्ण का हृषीकेश नाम बताता है कि इन्द्रियों पर उन्हें अधिकार या स्वामित्व प्राप्त था। वार्ष्णेय नाम इनके वृष्णिकुल को दर्शाता है। वे यादवों के वृष्णिकुल में देवकी तथा वसुदेव के यहाँ उत्पन्न हुए थे। वसुदेव के पुत्र होने से उन्हें वासुदेव कहा गया। माता-पिता के नाम पर पुत्र के नाम के अनेक उदाहरण अर्जुन पार्थ, कौन्तेय, भारत, कुरुनन्दन, भरतर्षभ, पाण्डव आदि गीता में प्राप्त होते हैं। पृथा या कुन्ती (दोनों एक ही स्त्री के नाम हैं) के पुत्र होने से वे इन नामों से पुकारे गये। भरत तथा कुरु संज्ञक क्षत्रियों की सन्तान अर्जुन को भरत तथा कुरुनन्दन कहना उचित ही है। इसी प्रकार अन्य नाम भी अपनी विशिष्टता रखते हैं। अर्जुन की ध्वजा पर कपि (हनुमान) का चित्र होने के कारण उन्हें कपिध्वज कहा गया है। महाबाहु लम्बी भुजाओं का सूचक है, गुड़ाकेश पर विशिष्टता का संकेत करता है। जा निद्रा को वश में कर लेता है। वह गुड़ाकेश एक कहलाता है। निष्पाप के लिए अनघ का प्रयुक्त सार्थक है। इस प्रकार ये सभी नाम सार्थक तथा व्यक्ति की विशेषताएँ प्रकट करते हैं–

मानसिक बल

–स्वामी सर्वदानन्दजी

मनुष्य में परमात्मा ने जो शक्तियाँ प्रदान की हैं उनमें "मन" एक बड़ी महत्त्वपूर्ण शक्ति है, मन के कारण ही मनुष्य का "मनुष्य" नाम पड़ा है। मन मनुष्य की सारी इन्द्रियों का राजा है और इन्द्रियों के द्वारा वह संसार के सारे कामों को करता तथा जानता है। ऐसी दशा में मानसिक बल की मनुष्य में कितनी आवश्यकता है सो सभी विचाशील जान सकते हैं।

मुनियों और मनीषियों ने मन को मनुष्य के बन्धन और मोक्ष का कारण बतलाया है। वास्तव में मन की दो दशाएँ हैं।

एक विकारी मन और दूसरा निर्मल या शुद्ध मन। विकारवान् मन ही बन्धन का हेतु है, और शुद्ध मन मोक्ष का कारण है। जिसको मन शुद्ध है, जिसके मन में बुरी भावनाएँ नहीं उठती हैं वही मोक्ष का अधिकारी होता है।

कई वेदान्तियों से हम ने सुना है कि कर्म बन्धन का हेतु है; पर यह बात हमारी समझ में नहीं आई, क्योंकि सच तो यह है कि कर्म की बुराई बन्धन का हेतु हो सकती है। विहित कर्म तो मोक्ष के लिए आवश्यक हैं। और विहित या निषिद्ध कर्म करना सर्वथा मन के अधीन है। क्योंकि महर्षियों ने कहा:–

यन्मनसा ध्यायतितद्वाचा वदित, यद्वाचा वदति
तत् कर्मणा करोति, यत्कर्मणा करोति तदभिसम्पद्यते।

जो कुछ मन में विचार आना है, वही वाणी द्वारा प्रकट होता है। और वही कर्म द्वारा होता है तथा उसी के अनुसार फल प्राप्त होता है। अतएव मन ही कारण हुआ फल प्राप्ति का। मन वचन, कर्म इन तीनों का परम्परागत सम्बन्ध है, सारांश जैसा मन शुद्ध या अशुद्ध, निर्बल या सबल होगा वैसी ही फल सिद्धि भी होगी। इसीलिए वेद भगवान् मनुष्य को मन में सद्विचार आने के लिए परमपिता की प्रार्थना करने की आज्ञा देते हैं:–

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवंतदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरुं गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकन्तंमे मनःशिव संकल्पमस्तु॥ य.३४-१॥

इत्यादि कई मन्त्रों में मन की महिमा बतला कर इसके शुद्ध होने के लिए प्रार्थना की गई है। मन जागृति और स्वप्न दोनों अवस्थाओं में अपना सोचने का काम किया करता है। इसकी सामर्थ्य और इसकी शक्ति बहुत बड़ी है; परन्तु इससे कल्याण तभी हो सकता है कि जब इस में सदैव शुभ संकल्प ही उठा करें, बुरे विचार इस में कभी न आवें। और ऐसे ही शुद्ध मन से परमानन्द या मोक्ष प्राप्त हो सकता है।

यह बात तो सभी चाहते हैं कि हमारे मन में बुरे विचार कभी न आवें। हम सदा शान्ति और आनन्दमय रहें, दुःख का भान भी न हो और इसके लिए सदा सब लोग प्रयत्न करते भी रहते हैं; परन्तु संसार की गति ही कुछ ऐसी है कि मन को आघात पहुँचाने वाली घटनाएँ यहाँ घटती रहती हैं, उन घटनाओं को सहते हुए जो अपने मन को वश में रखता है, उसे चंचल अस्थिर, या विकार पूर्ण नहीं होने देता–वही सच्चा धीरे-वीर और गंभीर है और उसी के अन्दर मानसिक बल

समझना चाहिये। कुरुक्षेत्र की रणभूमि में जब अचानक महावीर अर्जुन के मन में मोह पैदा हुआ, मानसिक निर्बलता ने उसे आ पछाड़ा, तब भगवान् कृष्ण ने अर्जुन के अन्दर मानसिक बल उत्पन्न करने के लिए गीता का उपदेश दिया। उस समय अर्जुन ने कहा:–

चंचलंहि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढ़म्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्।। अ० ६-३४

हे कृष्ण! यह मन बड़ा चंचल है, वही प्रबलता से अपनी ओर विषयों को खींचता है, इसे वश में रखना ऐसा है जैसा वायु को बांधना! इस पर श्री कृष्ण ने मनोनिग्रह का उपाय इस प्रकार बतलाया:–

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तय वैराग्येण च गृह्यते।। अ० ६-३५

हे महावीर! इस में कोई संदेह नहीं कि मन बहुत कठिनता से वश में हो सकता है, और यह चंचल भी बहुत है। तथापि अभ्यास और वैराग्य से इसको वश में कर सकते हैं, बस मानसिक बल को प्राप्त करने के दो साधन श्री कृष्ण ने बतलाये। एक सद्गुणों की ओर, मन को लगाना और दूसरे विषयों से दुर्व्यसनों से, उसे हटाना।

हमारे मन के अन्दर काम, क्रोध, मद्, लोभ, मोह, अंहकार, मत्सर, ईर्षा, द्वेष भय शोक इत्यादि विकार जो उठा करते हैं इनसे मन निर्बल होता रहता है, मन को कमजोर बनाने वाले यही बड़े रोग हैं। इनके सिवाय बाहर से भी मन को अशान्त करने वाले अनेक कारण उपस्थित रहते हैं। उन सब कारणों में दुष्ट धूर्त या स्वार्थी पुरुषों का संस्कार बड़ा भारी तूफान है। इस तूफान से धैर्य या शान्ति बहुत जल्द नष्ट होने लगती है। धूर्त या स्वार्थी आदमी अपना स्वार्थ साधने करने के लिए अकसर हमारे मन को भड़काते रहते हैं, हमारे मन को हमारे ही विरुद्ध भड़काते हैं अथवा किसी सज्जन सदाचारी महाशय के विरुद्ध मन को उत्तेजित करते हैं।

यदि हम चाहते हैं कि इन बाहरी और भीतरी रोगों से अस्त होकर हमारा मन निर्बल न हो तो हमको चाहिये कि हम विवेक बुद्धि से काम लें। अपनी वाणी और अपने कर्मों को शुभ मार्गों में लगाकर अपने मन के काम क्रोधादि शत्रुओं को जीतें और विवेक के द्वारा सत्यासत्य का विचार करके सत्य को मानें और असत्य का त्याग करें जो क्षुद्र जीव या धूर्त, स्वार्थवश, होकर हमारे मन को समय 2 पर, अशान्त किया करते हैं उनको बातों की सत्यता और असत्यता की जाँच

करें तथा उन धूर्तों से अपना सम्पर्क बिल्कुल न रखें।

अकसर देखा गया है कि धूर्त लोगों ने हमारी मानसिक निर्बलता का लाभ उठाकर हमें अपने मित्र लोगों के सन्मुख ही नीचा देखने का अवसर ला दिया, ऐसे अवसरों पर लज्जा और पश्चाताप के सिवाय और कुछ हाथ न आया, इसलिए विवेक शक्ति से हम शत्रु मित्र की पहचान नहीं कर सकते। यह जानना चाहिए कि जो लोग ऊपर से बहुत ही नम्र और शालीन बने हुए, हृदय के काले, धूर्त लोग हमारे पास बार-बार आकर चापलूसी करते हैं, मीठी-मीठी बातें करके अपना स्वार्थ साधने तथा दूसरे की हानि कराना चाहते हैं वे हमारे सच्चे मित्र नहीं हैं, उनकी बातों में हमें कभी भी न आना चाहिए। किसी हिन्दी कवि ने कहा है कि:-

ठगत फिरत जे लोक में, तिनको ठगिया जान।
तिनको मत पतियाइये, कही हमारी मान।।

जो संसार में लोगों की ठकुर सुहाती कहते फिरते हैं उनको ठगिया या धोखे बाज समझो, उनका विश्वास मत करो। मन की दृढ़ता या साहस से ऐसे धूर्तों को फटकार दो और उनसे सम्बन्ध न रखो। अन्यथा उनके कारण अवश्य ही हमें कभी न कभी पछताना पड़ेगा, आज पछताना पड़े या कल। नीति में कहा है कि:-

पुरुषा बहो राजन् सततं प्रियवादिन;।
अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुलर्भ;।।

हे महाराज! सदैव प्रिय बात बोल कर चाटुकारी करने वाले अनेक पुरुष मिलेंगे; परन्तु अप्रिय किन्तु हितकारी वचन कहने या सुनने वाले बहुत मुशकिल से मिलेंगे। परन्तु सच्चा मित्र वही है, चाहे अप्रिय कहे, परन्तु हित की बात कहे, जिसमें कुछ मानसिक बल होगा वही मनुष्य अप्रिय किन्तु हितकारी बात को कहे और सुनेगा और इसी में दोनों का कल्याण हो सकता है:-

सारांश जैसे व्यासजी ने योग दर्शन का भाष्य करते हुए कहा कि:
चित्तनदी नामोचयतो वाहिनी बहति कल्याणाय बहति पापाय च।
या तु कैवल्य प्राग्भार विवेक विषय निम्ना सा कल्याण वहा।
संसार प्राग्भाराऽविवेक विषयनिम्ना पापवहा।

तनरूपी नदी दोनों ओर को बहती है, अर्थात् कल्याण की ओर और पाप की ओर भी, जो मुमुक्षारूपी पहाड़ से निकल कर विवेक के मैदान में बहती हुई जाती है, वह कल्याण के सागर से मिलती है, और जो विषयों के पर्वत से निकल कर

अविवेक रूपी भूमि में बहती हुई जाती है, वह पाप के समुद्र को प्राप्त होती है। इसीलिए मुनियों ने कहा है कि मन को सदा शुभ संकल्प और विवेक से संलग्न रखो, तथा विषय लोलुपता, मिथ्या, विश्वास, अविवेक इत्यादि से दूर रखो, तभी पाप से दूर रहकर कैवल्य को प्राप्त हो सकते हैं। मन का लक्षण ही महर्षियों ने यही किया है:–

युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्।

मन का लक्षण यह है कि इसमें एक साथ एक ही काल में, दो प्रकार का ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता, अर्थात् भले बुरे विचार दोनों एक ही समय इसमें नहीं आ सकते, यह सुभीता है, अर्थात् बुरे विचारों को न आने देने के लिए यह आवश्यक है कि हम मनको सदविचारों से अवकाश ही न पाने दें, सदैव शुभ संकल्प मन में बनाये रखें, उससे मानसिक बल हमें स्वाभाविक ही प्राप्त होगा।

विद्या

"जिससे ईश्वर से लेकर पृथ्वी पर्यन्त पदार्थों का सत्य विज्ञान होकर उसने यथयोग्य उपकार लेना होता है, उसका नाम विद्या है।"

–महर्षिदयानन्द

विद्या और अविद्या यह दो ऐसे पदार्थ हैं कि जिनके वश में पड़ कर मनुष्य सुख या दु:ख अथवा शुभ या अशुभ को प्राप्त होता है। विद्या सुख का हेतु है, और अविद्या दु:ख का हेतु है। हृदय में जो किसी वस्तु का ज्ञान और भान होता है उसी का नाम विद्या है। विद्या के प्राप्त करने का साधन बुद्धि है। किसी वस्तु की सत्यता का हृदय में विचार करके बुद्धि के द्वारा निश्चय करना विद्या है। यह शक्ति मनुष्य में ही हो सकती है। मनुष्येतर प्राणियों में परमात्मा ने यह शक्ति नहीं दी। वे अज्ञानी या मूढ होते हैं। इसी लिए कहा जाता है कि–"विद्याविहीन: पशु:" विद्या से जो विहीन हैं वही पशु हैं, महर्षियों ने विद्या का लक्षण इस प्रकार किया है:–

वेत्ति पदार्थनां तत्त्वरूपं यया सा विद्या।

अर्थात् जिससे पदार्थों का यथार्थ स्वरूप बोध होवे, जैसे को तैसा समझा जाय उस शक्ति का नाम विद्या है। इसी तरह इन्द्रियों अथवा संस्कारों के द्वारा जो सत्य प्रमाण रूप ज्ञान होता है वह विद्या है। विद्या दो प्रकार की है, परा और अपरा। सर्व व्यापक, शक्तिमान् शुद्ध-बुद्ध, मुक्तस्वरूप योगी जनों का परम तत्त्व जो परब्रह्म परमात्मा है उसका ज्ञान जिसके द्वारा होता है वही परा विद्या है। मुण्डक उपनिषद् में कहा है कि–

द्वे विद्ये वेदितव्य इति हस्मयद्, ब्रह्मविदो वदन्ति पराचैवपरा च॥१।४॥

अर्थात् ब्रह्मज्ञानियों का कथन है कि विद्या के दो भेदों को भली भाँति समझ लेना चाहिए–अर्थात् एक तो परमात्मा विषयक परा विद्या और दूसरी धर्माधर्म तथा उनके फल को बतलाने वाली अपरा विद्या। आगे चल कर उसी उपनिषद् में कहते हैं–

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदःसामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पोव्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते॥५॥

ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद अथर्ववेद ये चार वेद और इनके शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष ये अंग, ये सब मिल कर विद्या कहाते हैं, छः अर्थात् वेद वेदाङ्गों में ब्रह्म प्रतिपादक ज्ञानकाण्ड है, वह पर विद्या है, और जो कर्म और उपासना कांड का भाग है। अर्थात् जिसमें त्रिगुणात्मक संसार का वर्णन है वह अपरा विद्या है। परा और अपरा विद्याओं के द्वारा ही मनुष्य सत्य ज्ञान या परमात्मा के स्वरूप को जान सकता है। एक आधुनिक कवि ने विद्या का फल धर्म इस प्रकार बतलाया है:–

विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रताम्।
पात्रत्वाद्धनमाप्नोति धनाद्धर्मं ततः सुखम्॥

विद्या विनय देती है और विनय से पात्रता अर्थात् योग्यता आती है, योग्यता से धन प्राप्त होता है, धन से धर्म और तब सुख प्राप्त होता है। अर्थात् पारलौकिक और लौकिक दोनों ही सुखों के प्राप्त करने के लिए विद्या की आवश्यकता है। पृथ्वी से लेकर परमात्मा तक सब वस्तुओं का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके उन वस्तुओं से अपना तथा संसार का उपकार करना विद्या से ही हो सकता है। प्राचीन काल में हमारे ऋषियों ने परा और अपरा अर्थात् आध्यात्मिक और आधिभौतिक दोनों विद्याओं में पूरी उन्नति की थी और आज पश्चिमी विद्वान् आधिभौतिक विद्या अर्थात् 'विज्ञान' या साइंस की पराकष्ठा तक पहुँच गए हैं। परन्तु पराविद्या या अध्यात्म शास्त्र का उन्हें कुछ भी बोध नहीं है, यही कारण है कि उन लोगों को सुख शान्ति नहीं है, चारों ओर मारकाट की अशान्ति छाई हुई है। भौतिकता का यह फल ही है। वास्तव में आध्यात्मिक ज्ञान के बिना भौतिक विज्ञान में भी शान्ति का आविर्भाव नहीं हो सकता। केवल भौतिक विज्ञान की अत्यन्त उन्नति परमात्मा से दूर करके प्रकृति उपासना में रत करती है, जिसका बुरा फल वेद भगवान् इसी प्रकार बतलाते हैं:–

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उसम्भूत्याꣳरताः॥ यजु४०।९॥

अर्थात् जो असंभूति या अनुत्पन्न अनादि प्रकृति कारण की उपासना करते हैं

वे अन्धकार या अज्ञान और दुख सागर में डूबते हैं, तथा सम्भूति अर्थात् कारण से उत्पन्न हुए जड़ चेतन भूतों की जो उपासना करते हैं वे उस अंधकार से भी अधिक अंधकार अर्थात् महामूढ़ता में चिरकाल घोर दु:ख में पड़े रहते हैं।

हमें खेद होता है कि जब हम यह देखते हैं कि अध्यात्म विद्या प्रधान आर्यावर्त भी पश्चिमी भौतिकता की ओर बड़ी तेजी से जा रहा है, तथा कई बातों में तो यह और भी अधिक अंधकार में डूबता जा रहा है। अस्तु!

साधारण विद्या से ही जीवन सार्थक नहीं हो सकता, किन्तु उसके साथ विनय की आवश्यकता है। कहा भी है–"विद्या विनयेन शोभते" विद्या विनय से ही सुशोभित होती है, यदि विद्या के साथ विनय होगा तो वह विद्या कार्यकारिणी तथा संसार के लिए उपयोगी होगी और यदि विद्या के साथ विनय हुआ, किन्तु इसके प्रतिकूल गर्व या अभिमान हुआ तो उसमें कर्तृत्वशक्ति नहीं आ सकती। अभिमान-पूर्ण विद्या से विवाद उत्पन्न होता है और संसार को लाभ नहीं पहुँचता। कविवर टेनीसन का कथन है:–

Let Knowledge grow from more to more and reverence with it in us dwell.

विद्या और विनय से जो सम्पन्न होता है, वही ब्राह्मण ब्रह्म को जान सकता है, और वही संसारोपयोगी कर्म भी कर सकता है तथा जो क्रियाशील विद्वान् है, वही सच्चा विद्वान् भी है।

विद्या के सच्चे स्वरूप को पहचाने बिना उसका प्राप्त करना कठिन है। इसलिए स्वाध्यायशील बनना चाहिये, वेदादि धार्मिक ग्रन्थों का मनन प्रति दिन यदि नियम से किया जाय तो विद्या का स्वरूप समझने में सरलता हो। इसके सिवाय परमात्मा की इस मनोहर और विलक्षणतापूर्ण सृष्टि की सूक्ष्मता के साथ निरीक्षण भी करना चाहिए।

जंगल पहाड़ों में जाकर वहाँ के मनोरम दृश्यों को देखना, सोते, झरने झील सरिताओं के प्राकृतिक दृश्य देख कर सृष्टि कर्त्ता की महिमा को हृदय में अनुभव करना भी विद्या के स्वरूप को समझने का साधन हो सकता है; पर इन प्राकृतिक पदार्थों को ही सर्वस्व न मान लेना चाहिये, आत्मा और परमात्मा का स्वरूप तथा इनका परस्पर सम्बन्ध समझने के लिए योगाभ्यास तथा संत समागम की भी जरूरत है, इससे पराविद्या का स्वरूप मालूम हो जाता है। विद्या विलास में मन को रमाना, संसार के दु:खी जीवों को दु:ख से उबारना, अन्याय से पीड़ित जनों को मुक्त करना तथा शान्ति पूर्वक जीवन यात्राक्रमण करना, यही आर्य जीवन का लक्ष्य होना चाहिये।

मृत्यु और अमरत्व

–अवधेश नारायण मिश्र, रायपुर

यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय में, जीवन की समाप्ति पर, जीवात्मा और शरीर के भेद का स्पष्ट चित्रण है–

वायुरनित्मं अमृतं अथेदं भस्मातं शरीरम्।

ओ३म् क्रतो स्मर, क्लिबे स्मर, कृतं स्मर॥

अर्थात् आत्मा अभौतिक (spiritual) है इसलिए मरणशील नहीं है, अमर है। और यह भौतिक शरीर अन्त में अग्नि को भेंट होकर भस्म हो जाता है। इसलिए हे कर्मशील जीव तू ओ३म् पदवाच्य परमेश्वर का स्मरण कर, सामर्थ्य के लिए स्मरण कर।

गीता में भी आत्मा को अमर और शरीर को नश्वर कहा गया है। जीव (आत्मा) अमर है। न मरता है और न गलता है। यह जीव चोला (शरीर) बदलता रहता है। चोला अनित्य है, जल सकता, मैला या जीर्ण हो जाता है, काम नहीं देता। अतः काम को आगे बढ़ाने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि दूसरा चोला, नया शरीर प्राप्त किया जाय।

एक ज्ञानी कवि की बहुत सुन्दर अभिव्यक्ति है–

मृत्यु एक सरिता है जिसमें, श्रम से कातर जीव नहाकर।

नये वस्त्र धारण करता है, कायारूपी वस्त्र बहाकर॥

एक आध्यात्मनिष्ठ पुरुष वर्तमान शरीर को जीर्ण और बाधक समझकर नये नेत्र, नये प्राण, नये साधनों के लिए प्रभु से प्रार्थना करता है क्योंकि नये साधन ही उसके स्वस्ति या कल्याण के हेतु हैं। फटे-पुराने कपड़े उतारकर ही तो नया कपड़ा पहना जाता है। इसलिए जो विद्वान और तत्त्ववेत्ता हैं, वे मृत्यु को अनिष्ट नहीं समझते। ऋग्वेद की वाणी है–

यस्य छायाऽमृतं यस्य मृत्युः॥

अर्थात् अमृत और मृत्यु दोनों परमात्मा की छाया में अर्थात् आश्रय में है। कपड़े पहनाना भी माता-पिता की कृपा है, और फट जाने पर या व्यर्थ हो जाने पर उनको उतार देना भी कृपा ही है। ऐसा ज्ञान होने पर मरते हुए भी मौत का डर नहीं रहता।

ऋग्वेद में प्रभु से कृपापूर्वक चोला अर्थात् शरीर बदलने की प्रार्थना की गई है क्योंकि चोला बदलने में ही जीव का कल्याण है। नया शरीर प्राप्त हो जाने पर ही उसे (जीव को) ज्ञान की प्राप्ति होगी। दूसरे शब्दों में हम पुनः जीवित हो गए

हैं और मृत्यु के पाश से निकल गये हैं।

'मृत्योर्माऽमृतं गमय' अर्थात् अमरत्त्व प्राप्त करने के लिए, जीवन-लाभ के लिए मनुष्य को पुरुषार्थ करना चाहिए, उद्योग करना चाहिए। अनुद्योगी, आलसी तो प्रकाश पाकर भी अंधकार में रहता है। महामति चाणक्य कहते हैं–**वर्तमान कालेन प्रवर्तन्ते विचक्षणः।** अर्थात् बुद्धिमान व्यक्ति जीवन के लिए केवल वर्तमान में विश्वास करते है।

विचार कीजिए कि जिस जीव ने यहाँ जन्म लिया है, कहीं तो उसका वियोग हुआ होगा। यदि वहाँ वियोग (मृत्यु) नहीं होता तो यह संयोग (जन्म) भी कैसे होता! इसलिए ज्ञानी पुरुष इस रहस्य को जानकर मृत्यु से कभी दुखी नहीं होते।

जीवन का प्रारंभ बाल्यावस्था से होता है। यौवनावस्था जीवन का चरम शिखर है। किन्तु वृद्धावस्था तक पहुँचते-पहुँचते शरीर के सभी अंगों, सभी इन्द्रियों से कोई न कोई शिकायत होने लगती है। ऐसे समय मृत्यु रूपी रात्रि आकर उसे परम विश्राम का अवसर देती है। फिर नये सवेरे की भाँति उसे नया शरीर मिलता है। जहाँ उसे नया उत्साह, नई स्फूर्ति, नयी शक्ति और नया सामर्थ्य प्राप्त होता है। बुढ़ापे में हाथ-पैर हिलाना कठिन होता है, किन्तु नये जन्में शिशु में हाथ-पैर ठहराना कठिन हो जाता है। अतः परिणाम की दृष्टि से मृत्यु दुःख का कारण नहीं अपितु सुख का संदेश वाहक है। इस वास्तविकता के अज्ञान के कारण ही मनुष्य मृत्यु से दुःख का अनुभव करता है।

सुप्रसिद्ध आर्य संन्यासी एवं वैज्ञानिक डॉ सत्यप्रकाश सरस्वती जी के कथनानुसार–

Death is a door between two Lives, the present and the next one.

'वेदों की ओर' पुस्तक से उद्धृत

डॉ. विक्रमकुमार विवेकी

वेद का मतलब है ज्ञान

कम्प्यूटर युग में मनुष्य आज वेदों को भूल रहा है। हर व्यक्ति का मन धन को बटोरने के लिए निन्यानवे के फेर में उलझ गया है। हमें वेदों की ओर लौट चलने के लिए मन बनाना ही होगा, क्योंकि वेद संसार का सार है। वेद का मतलब है ज्ञान। पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, आकाश, वायु, अग्नि, जल आदि सभी

तत्त्वों की अपनी एक विद्या है। पृथ्वी आदि के निर्माण में मनुष्य का अपना कोई योगदान नहीं है। ये सभी परमपिता परमेश्वर की रचनाएं हैं और एक निश्चित व्यवस्था में संचालित है। पृथ्वी की एक अपनी व्यवस्था है, जिसे हम पृथ्वी-विद्या का नाम दे सकते हैं। सूर्य के सारे कार्य सूर्य विद्या के द्वारा ही नियन्त्रित होते हैं। (चन्द्र, नक्षत्र आदि अपनी-अपनी विद्याओं से बंधे होकर कार्य कर रहे हैं। ये सब विद्याएं जिन ग्रन्थों में लिखित हैं, उन्हीं का नाम ही वेद है। संसार में मनुष्य के द्वारा एवम् अन्य प्राणियों के द्वारा किये जा रहे हैं, वे सब जिस विद्या के द्वारा हो रहे हैं, उसे वेद कहते हैं। वेद माता-पिता, पति-पत्नी, भाई-बहिन, गुरु-शिष्य के पारस्परिक व्यवहार को भी सिखाता है।

संस्कृत व्याकरण में 'विद्' नाम की चार धातुएं हैं जिन से 'वेद' शब्द बना। वे हैं–**विद् सत्तायाम्** (होना) **विद् ज्ञाने** (जानना), **विद् विचारणे** (विचारना), **विद् लाभे** (प्राप्त होना) 'वेद' शब्द का अर्थ हुआ कि वह विद्या जिस से मनुष्य जाति अपने अस्तित्व से चिन्तन-मनन करते हुए विचार करती है तथा अन्त में सांसारिक व परलोक के सुखों को प्राप्त करती है। वेद ईश्वरीय वाणी है। यह बात सच है कि मनुष्य बिना सिखाए ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। इसलिए उस ने सृष्टि के प्रारम्भ में भी दिव्य प्रेरणा से ही ज्ञान प्राप्त किया।

इस बात पर मतभेद हो सकता है कि क्या वेद चार ही हैं? या अन्य ग्रन्थ भी वेद कहला सकते हैं? मूल वेद का स्वरूप कैसा था? किन-किन ग्रन्थों को हम वेद मानें?

परन्तु मुनियों की परम्परा जिन चार ग्रन्थों को वेद मानती चली आ रही है वे ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, और अथर्ववेद हैं।

वेदों का स्थान न केवल भारतीय साहित्य में बल्कि विश्व साहित्य में बहुत ऊंचा है। पहले हर वर्ग इस का अध्ययन करता था परन्तु बाद में उन्होंने इसे छोड़ दिया और लोग इन का अर्थ भूलने लगे। तब मुनियों ने अन्य वेदांगों और उपांगों की रचना की। ब्राह्मण ग्रन्थ, आरण्यक ग्रन्थ, उपनिषद् ग्रन्थ आदि रचने जाने लगे, जो वेद मन्त्रों के अर्थ स्पष्ट करते हैं। ऐसा नहीं है कि वेद बहुत कठिन हैं या ये केवल ब्राह्मणों व पण्डितों के लिए ही हैं। इसे स्त्री नहीं पढ़ सकती या शूद्र को इसे पढ़ने का अधिकार नहीं है। वेद स्वयं अपने को पढ़ने का अधिकार सभी लोगों को देता है क्योंकि वेद कल्याण करने वाली वाणी है। जिस प्रकार प्रभु द्वारा दिये गये सभी पदार्थ सभी के लिए हैं उसी प्रकार प्रभु की वेद वाणी पर भी सभी का अधिकार है। इस परम पावन वाणी को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, स्वामी,

नौकर, स्त्री-पुरुष सभी पढ़ सकते हैं-**यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।**

हां यह समस्या अवश्य है कि ये वेद मन्त्र संस्कृत में लिखे गये हैं। इस भाषा को आम जनता नहीं समझ पाती। परन्तु संस्कृत को जानने वाले विद्वानों के द्वारा अपनी भाषा में इसे जाना जा सकता है। इस में बताये गये सन्देशों, उपदेशों, मार्ग-प्रदर्शनों को जीवन में अमल किया जा सकता है।

अन्धकार से ढके हुए संसार में रास्ता दिखाने वाली ज्योति केवल मात्र ये वेद की हैं। ये वेद शरीर में नेत्रों के समान हैं। ये वेद प्रकाश के द्वारा पथ दिखाते हुए सम्पूर्ण मानव जाति को उन्नति की ओर ले जाते हैं। संसार में कौन ऐसा व्यक्ति होगा जो आंख की उपेक्षा कर सकेगा।

वेदों की दृष्टि में धर्म का स्वरूप

हमने 'धर्म' और 'संस्कृति' शब्दों के मूल अर्थ को नष्ट कर दिया है। हम ने सब मतों, मजहबों, सम्प्रदायों, पन्थों, मान्यताओं या दृष्टिकोणों को धर्म मानना शुरू कर दिया है। जबकि धर्म तो केवल कोई एक ही हो सकता है और वह भी वही हो सकता है जो सभी को स्वीकार करने योग्य हो, इसलिए वेद में कहा गया है–

सा प्रथमा संस्कृतिः विश्ववारा।

(यजु० ७।१४)

वह प्रथम संस्कृति ही विश्व के समस्त मानवों के लिए वरणीय है।

तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।

(ऋग् १०।९०।१६)

धर्म के वे अंग-सत्य, संयम, सदाचार, न्याय, दया, क्षमा, परोपकार व अहिंसा आदि शाखा-प्रशाखा के रूप में सर्वप्रथम वेदों में ही वर्णित हैं। संस्कृत-साहित्य में विलोम शब्द के रूप में दो शब्दों की जोड़ी सुप्रसिद्ध है-**नूतन** व **पुरातन**। कोई मत या मजहब किसी अन्य मत या मजहब की अपेक्षा नूतन होता है तो कोई पुरातन। वैदिक धर्म सनातन है।

सृष्टि के प्रारम्भ से निरन्तर प्रवाहित होती आ रही वैदिक धर्म की यह अजस्र धारा गंगा की तरह गंगोत्री से निकल कर आज तक **सर्वजनहिताय** तथा **सर्वजनसुखाय** है। यह वैदिक धर्म सार्वजनीन, सार्वकालिक, सर्वाभौमिक एवम् अजातशत्रु है जो निर्विकार एवं निर्दोष होने के कारण समस्त विश्व का सर्वथा शेधन है। जब धर्म वैदिक न रहकर अन्य किसी मतपरक विशेषणों से जुड़ने लगता है तो उस समय मौलिक धर्म की उत्कृष्टता अपने आप समाप्त होने लगती

है तथा वह तथाकथित धर्म, संकीर्ण, भाव वाला होकर अपने अनुयायियों को सच्ची मानवता से दूर भी करता है।

धर्मनिरपेक्षता की अनर्गल व्याख्या ने ही कुकुरमुत्तों की तरह जगह-जगह पर उग आए आधुनिक समस्त मत-सम्प्रदायों, पन्थों एवं मजहबों को उदारता एवं समझौतावाद के कारण धर्म और संस्कृति का जामा पहना दिया है जिस का परिणाम वर्तमान में हम देख रहे हैं-सर्वत्र धार्मिक विद्वेष, साम्प्रदायिकता कट्टरता, मजहबी उग्रवाद, अधिक स्वायत्तता की मांगें व युद्ध विभीषिका। इस प्रकार का तथाकथित धर्म स्वयं को उत्कृष्ट एवम् अन्य को गर्हित, हेय व अधम मानता है। ऐसी बात नहीं है कि वैदिक धर्म से पृथक् अपनी सत्ता रखने वाले अन्य मतों में जो करुणा, ममता, उदारता, सहानुभूति, सदाचार, अहिंसा, आदि गुण हैं वे प्रशंसनीय हैं। समाजों व राष्ट्रों में देश, काल तथा व्यक्ति की प्रवृत्ति के अनुसार खान-पान, रहन-सहन, लोकाचार व पूजा-पद्धतियों में भिन्नता होना स्वाभाविक है, परन्तु उन से धर्म की भिन्नता कदापि नहीं हो सकती।

धर्म सब का एक ही होता है। अध्यात्म से ओत-प्रोत जीवन सत्य, धैर्य, क्षमा, इन्द्रिय-नियन्त्रण, स्वाध्याय, दानकर्ता, परमार्थ, यज्ञमयता, उदारता, पक्षपातहीन, न्याय, अप्रमाद, कर्तव्य परायणता, उदात्तता, तपस्या, साधना, सन्तोष, ब्रह्मचर्य एवम् अपरिग्रह आदि गुण धर्म के वे शाश्वत अंग हैं जो इन्सान को दानवता से बचाते हुए मानव बनाए रखते हैं। इन्हीं धार्मिक गुणों से एक स्वस्थ समाज व विशाल राष्ट्र की स्थापना हो पाती है।

वैदिक ऋचाएं धर्म को ध्रुव विशेषण से जोड़कर उस की अक्षरता को दर्शाते हुए निश्चित सिद्धान्तों व आचरण के नियमों की ओर संकेत करती है-

मित्रावरुणौ त्वोत्तरतः परिधत्तां ध्रुवेण धर्मणा विश्वस्यारिष्ट्यै।

(यजु० २।३)

वस्तुतः धर्म एवं संस्कृति आदिकाल से चले आ रहे वे शाश्वत मानवीय कर्तव्य हैं जो अनिवार्य रूप से पालन किये जाते हैं। इस धरा के महर्षियों की अमरवाणी केवल इसी लोक कल्याणकारिणी धर्म-ध्वनि का ही उच्चारण करती रही है-**धर्मादर्थश्चकामश्च** अर्थ और काम की प्राप्ति धर्मपूर्वक ही करनी चाहिए।

उपनिषत् के ऋषि ने भी धर्म की सार्थकता को लोकोन्नति में ही देखा है। उसने कहा-**त्रयो धर्मस्कन्धाः यज्ञो अध्ययनं दानम्।** (छान्दोग्य उपनिषद् २/२३/१) यज्ञ, अध्ययन एवं दान के माध्यम से उसने धर्म का व्याख्यान करने का प्रयास किया है। यज्ञ धर्म का पहला अंग है।

सभी श्रेष्ठ कर्म यज्ञ कहलाते हैं अतः कोई भी अच्छा कार्य करने वाला व्यक्ति सच्चा धार्मिक होता है। अध्ययन जीवन को उत्थान की ओर ले जाता है। इसलिए स्वाध्यायप्रेमी व्यक्ति भी धर्म का पालक माना गया है। दान धर्म का वह पड़ाव है जिस से व्यक्ति मानवता से देवत्व की ओर कदम रखता है।

वेदों में संस्कृति के ही आस-पास रहने का सन्देश

यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय (ईशोपनिषद्) में एक ऋचा है, जो विकृति के सुनहरे ढक्कन को हटाकर मूल संस्कृति को पहचानने का सन्देश देती है।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥

हे मानव, तू सोने की तरह चमकने वाले इस विकृति रूपी आवरण को हटाकर मूलसत्य, मूलधर्म एवं मूलसंस्कृति को जानने का प्रयास कर। राजा भर्तृहरि चले जा रहे थे। मार्ग में सड़क पर पड़े चमकते हुए, मोती से रंगवाले सिक्के को उठाने के लिए झुके तो अपनी अंगुलियां बलगम में धंसा बैठे। खुद पर हंसने लगे। क्योंकि यह महाभ्रम था। विकृति में संस्कृति का भ्रम था। बलगम में सिक्के का भ्रम था।

विकृति और संस्कृति को समझ पाना अति सरल नहीं है। इसे बुद्धिजीवी ही समझ पाते हैं। विवेकहीन व्यक्ति दोनों के अन्तर को न समझकर विकृति के ही मकड़ जाल में उलझ जाते हैं। तीन शब्दों को पास-पास रखकर विचारने से मूल संस्कृति को समझने में बाधक अनेक भ्रान्तियां स्वतः दूर हो जाती हैं। वे तीन शब्द हैं–

प्रकृति, विकृति और संस्कृति।

नाना प्रकार के अन्न, दालें, सब्जियां आदि अ-पका खाद्य पदार्थ **प्रकृति** है। इन्हें रसोईघर में ले जाकर भोक्ता के लिए उपयोगी व लाभकारी खाद्य बना दिया गया, यह **संस्कृति** है। रात भर भोक्ता के पेट में रहकर सुबह इस की जो दशा हुई, वह **विकृति** है। इस मलरूपी विकृति को भी संस्कृति समझ लेना शूकर संस्कृति है। सारांश हुआ-संस्कृति संग्राह्य है तो विकृति त्याज्य होती है।

इसी सन्दर्भ में सभ्यता शब्द के अर्थ को भी समझ लेना चाहिए। सभ्यता और संस्कृति पर्यायवाची शब्द कदापि नहीं हैं। इन दोनों में एक मौलिक अन्तर है। संस्कृति और सभ्यता के बीच लक्ष्मणरेखा के रूप में एक झीना सा पर्दा होता है। इस पार संस्कृति तो उस पार सभ्यता होती है। कोई सभ्यता जब उदात्त रूप को धारण कर समाज-निर्माता बन जाती है तो वह संस्कृति में ही समाविष्ट हो जाती है। इसी तरह मूल संस्कृति का कोई तत्त्व जब किसी सभ्यता से प्रभावित होकर

अपनी मूल 'सर्जक-धर्मिता' को छोड़ देता है तो संस्कृति का अंग होता हुआ भी सभ्यता के क्षेत्र में सिमट जाता है। स्वधर्म को छोड़ता हुआ वह तत्त्व सभ्यता में परिणत हो जाता है।

संस्कृति संस्कृति होती है तो सभ्यताएँ विकृतियां होती हैं। संस्कृति एक होती है तो सभ्यताएँ पृथक्-पृथक् अनेक होती हैं-भारतीय सभ्यता, चीनी सभ्यता, पाश्चात्य सभ्यता, आधुनिक सभ्यता आदि। 'संस्कृति' शब्द के आगे-पीछे विशेषण जोड़कर उसे खण्ड-खण्ड करना अज्ञानता है। मानव की संस्कृति एक है, जिसे मूल-संस्कृति कहते हैं। हां, इस संस्कृति के मूल तत्त्व या आधार अनेक होते हैं जो इस की शाखा-प्रशाखाएँ मानी गयी हैं। जैसे-त्याग, दया, क्षमा, करुणा, ममता, सहानुभूति, मानवता, सहृदयता, परोपकार, अहिंसा, धैर्य, सन्तोष आदि। हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई सभी के लिए संस्कृति के ये मूल तत्त्व अनिवार्य हैं। जबकि इन की सभ्यता अलग-अलग होती है। सभ्यता को संस्कृति कहना या संस्कृति को सभ्यता कहना दोनों शब्दों के साथ बलात्कार है। ऐसा प्रयोग परवर्त्तिकाल का ही प्रभाव है। यही अन्याय 'धर्म' शब्द के साथ भी हुआ है, जिस के कारण कुछ शब्दों के भावग्रहण में सब गुमराह हैं।

'नृत्य' एक कला है। कला भी संस्कृति का मूल तत्त्व है। यह कला जब कला के ही रूप में प्रस्तुत होती हुई समाज-निर्माण में सहयोगिनी बनी रहती है तो यह संस्कृति का ही एक अंग मानी जाती है। परन्तु यही कला जब कला के नाम पर नग्नता को अपनाकर कलुषित होने लगती है तब संस्कृति के क्षेत्र से खिसक कर यह सभ्यता की सीमा में ही सिमट जाती है और पाश्चात्य सभ्यता के नाम से ही जानी जाती है।

नारी वैदिक संस्कृति का केन्द्रीय बिन्दु है। युवावस्था के पड़ाव और अर्धाङ्गिनी के रूप में एक ही नारी को जाया मानकर अन्य समस्त स्त्रीजाति को मां, बहन व पुत्री के रूप में देखना, वैदिक संस्कृति है। विदेशी सभ्यता की ऐनक लगाकर सावन के अन्धे की तरह प्रत्येक अंगना को गणिकाभाव से निहारना संस्कृति नहीं अपितु पाश्चात्य या आधुनिक सभ्यता है।

विविध सभ्यताओं की एक लम्बी लिस्ट बनाई जा सकती है। संस्कृति के किसी विशिष्ट तत्त्व के होने के कारण कोई सभ्यता अपनाने के योग्य हो सकती है तो नितान्त विकृतियों से ही परिपूर्ण होने के कारण कोई सभ्यता सर्वथा त्याज्य हो सकती है।

अन्ततः, हम चाहे मैट्रिक पास हैं या बी०ए० पास, एम०ए० पास हैं या पी-एच०डी०पास, यदि वैदिक ऋचाओं के अनुसार संस्कृति के आस-पास नहीं हैं तो विकृतियों से सारा समाज ऐसे ढह जायेगा, जिस की हम कल्पना भी नहीं कर रहे हैं।

दिव्य औषधियाँ

परमहंस स्वामी जगदीश्वरानंद सरस्वती **पृष्ठः 112, मूल्यः 65.00**

वेद के आदेशानुसार प्रत्येक व्यक्ति को नीरोग और स्वस्थ रहना चाहिए। सारी सावधानियाँ बर्तने पर अथवा उनमें ढील होने पर रोग आ जाएँ तो औषधियों की शरण लेनी चाहिए। आजकल एलोपैथिक, होम्योपैथिक, नेचरोपैथिक, एक्युप्रेशर, आदि अनेक पैथियाँ प्रचलित है। एलोपैथिक औषधियाँ बहुत मंहगी हैं, उसके अन्य दुष्प्रभाव भी है। भारत के लिए आयुवैर्दिक पद्धति ही सर्वश्रेष्ठ है।

आयुर्वेद में कठिन से कठिन रोगों के लिए अत्यन्त सस्ती औषधियाँ है। इन औषधियों का निर्भय होकर प्रयोग किया जा सकता है। इनका शरीर पर दुष्प्रभाव भी नहीं होता है। इनमें अधिकांश काष्ठ औषधियाँ हैं, इनका लम्बे समय तक प्रयोग करें अवश्य लाभ होगा।

चमत्कारी औषधियाँ

परमहंस स्वामी जगदीश्वरानंद सरस्वती **पृष्ठः 134, मूल्यः 65.00**

इस पुस्तक में हमने गागर में सागर को उँडेला है। यह सहस्रों पृष्ठों का निचोड़ है, जीवनभर के अनुभवों का समावेश है। आयुर्वेद-चिकित्सा पद्धति अत्यन्त सस्ती ओर लाभप्रद है। बड़ पीपल, गूलर, कीकर, फिटकरी, नीलाथोथा, धनिया आदि के द्वारा ही बहुत से भयंकर रोगों को दूर किया जा सकता है। इस पुस्तक में दिए गए सभी नस्खे अनेक बार परीक्षित हैं, आप भी निर्भय होकर प्रयोग कीजिए और लाभ उठाये।

घरेलू औषधियाँ

परमहंस स्वामी जगदीश्वरानंद सरस्वती **पृष्ठः 136, मूल्यः 65.00**

आयुर्वेद चिकित्सा पद्धति कितनी सस्ती और कितनी लाभप्रद है इसका ज्ञान पाठकों को इस पुस्तक के अवलोकन से होगा। आज इस महंगाई के युग में भी बवासीर, दमा जैसे रोग 2-3 रुपये में ठीक हो सकते हैं। आरम्भिक मोतियाबिन्द ऑपरेशन के बिना कट जाता है। इस पुस्तक में दिये गये हुए सभी नस्खे अनेक बार परीक्षित है। इन्हें प्रयोग में लाइये और लाभ उठाये।

ikfIr LFkku% fot;dqekj xkfoUnjke gkLkuUn
4408] ubZ lM+d] fnYyh&6] njHkk"k 23977216] 65360255
Email: ajayarya16@gmail.com Web: www.vedicbooks.com

क्या खाएँ और क्यों

गणेश नारायण चौहान **पृष्ठः 226, मूल्यः 120.00**

प्रस्तुत पुस्तक में रोग के लक्षण, कारण, निदान और चिकित्सा में खाये जाने वाले मौसम के फल, सब्जियाँ मसाले, आदि के सेवन से ही रोगों को दूर कर देने वाली और हर प्रकार की चिकित्सा में सहायक पुस्तक बनाम घर का डाक्टर। दवाइयों के दुष्प्रभावों से बचकर अपनी चिकित्सा आप करें।

भोजन के द्वारा चिकित्सा-2 भागों में

गणेश नारायण चौहान **पृष्ठः 226, मूल्यः 220.00**

घर की अनेक बीमारियों में नित्य खाए जाने वाले मौसम के फल-सब्जियाँ, मसाले दादी माँ के नुस्खे आदि के प्रयोग से स्वास्थ्य लाभ, रोगों की चिकित्सा एवं बीमारी में रोगी के लिए उचित भोजन, हर प्रकार की चिकित्सा में सहायक पुस्तक बनाम घरेलू डॉक्टर।

योग और स्वास्थ्य

आचार्य भद्रसेन **पृष्ठः 198, मूल्यः 95.00**

यह जीवन एक संग्राम भूमि है जिसमें हमें प्रतिदिन सैकड़ों विरोधी शक्तियों से युद्ध करना पड़ता है, अतः इस जीवन में वही विजयी हो सकता है जो स्वस्थ है।

मनुष्य को प्रथम अपने शरीर की सम्भाल करनी चाहिए, क्योंकि अन्य सब धन, सम्पत्ति आदि पदार्थो तथा सुख साधनों के होने पर भी स्वस्थ शरीर के बिना वह सब नहीं के समान है।

प्रस्तुत पुस्तक में योग का उद्देश्य, आहार व्यवहार, आचार कैसा हो, रोगों की यौगिक चिकित्सा, योगासनों की विधि एवं लाभ, मुद्रायें, बन्ध क्रियाएं, स्त्रियों के यौगिक व्यायाम, वृद्धावस्था दूर करने के अमोघ उपाय, प्राणायाम, प्राणायाम विधि, प्राकृति चिकित्सा, उपवास आदि मुख्य-मुख्य अंगों के करने की सरलतम विधि को स्वस्थ रखने के अचूक उपाय आदि विषयों पर प्रकाश डाला गया है।

प्रकाशक-अजयकुमार, मुद्रक-अजयकुमार, स्वामी-अजयकुमार, गोविन्दराम हासानन्द, 4408, नई सड़क, दिल्ली-6, अजयकुमार द्वारा सम्पादित, प्रिंटर्स-अजय प्रिंटर्स, 1586/C-13, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32 में प्रिंट करा, वेदप्रकाश कार्यालय, 4408, नई सड़क, दिल्ली-6 से प्रसारित किया। न्यायक्षेत्र-दिल्ली।